Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2018 SISRRJ | Volume 1 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

बिहार के संदर्भ में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का एजेंडा

डॉ० शैलेन्द्र कुमार
माध्यमिक शिक्षक (सामाजिक विज्ञान)
राजकीयकृत उच्च विद्यालय मई, हिलसा, नालंदा, भारत।

शोध सार – गत दो दशकों से गठबंधन की राजनीति के जोर पकड़ने के बाद राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की पैठ गहरी हो गई है। विशेषज्ञ क्षेत्रीय दलों की इस बढ़ती पहुँच पर भिन्न मत रखते है, लेकिन इसमें शक नहीं है कि आज की राजनीति क्षेत्रीय दलों के बिना अधूरी दिखती है। बिहार की राजनीति में एक ऐसी दलगत प्रणाली उभर रही है जिसमें बहुत अधिक विखरावन है और दलों के बीच जबरदस्त होड़ भी है। ऐसे में बिहार के बड़े मुद्दें अथवा एजेंडा भिन्न–भिन्न है।

मुख्य शब्द – क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, राजनीतिक दल, जाति, साम्प्रदायिकता, मंडल, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय, भूमिहीन, विकास एवं परिवारवाद।

1989 के लोकसभा चुनावों से पहले जारी अपने घोषणा पत्र में जनता दल ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का वायदा किया था। 7 अगस्त 1990 को वी.पी.सिंह ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का फैसला किया। लेकिन ऐसा करते समय वे नीतिगत निष्ठाओं से अधिक अपनी राजनीतिक मजबूरियों से प्रेरित थे। देवीलाल के पिछड़ी जातियों में प्रभाव को तोड़ने के उद्देश्य से वी॰पी॰सिंह ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का फैसला किया।[1] मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद शुरू हुए आरक्षण विरोधी और आरक्षण समर्थक आंदोलनों ने बिहार में अस्त–व्यस्तता और अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी। शायद ही कोई ऐसा शहर या गाँव बचा हो, जहाँ आरक्षण समर्थक और आरक्षण विरोधी गुटों में हिंसक झड़पें न हुई हो। आरक्षण के मुद्दे को लेकर उपजी जातीय हिंसा से बुरी तरह प्रभावित जिलों में सहरसा, मधेपुरा, बेगूसराय, समस्तीपुर, वैशाली, छपरा, सीवान, पटना, नालन्दा, भोजपुर, मुंगेर, दरभंगा, मधुबनी और भागलपुर प्रमुख थे। लालू ने आरक्षण विरोधी आंदोलन के खिलाफ पिछड़ी जातियों को एक करने की कोशिश की। 8 अक्टूबर, 1990 को लालू ने गांधी मैदान में 'मंडल रैली' आयोजित की। इस रैली में पिछड़ों का जनसैलाब उमड़ पड़ा। रैली में लालू ने जोर देकर कहा कि चाहे धरती आसमान एक हो जाए, पर मंडल पर कोई समझौता नहीं होगा। लालू और उनके साथी आक्रामक रूप से पिछड़ी जातियों को आरक्षण दिए जाने की मुहिम के अगुआ बने हुए थे। इन्हीं के प्रयासों से पिछड़े गोलबंद हुए। लालू ने पिछड़ों में सत्ताधिकार और आरक्षण की भूख पैदा कर दी।

मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किए जाने के फैसले का बिहार की राजनीति पर भी जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। इसने राज्य की राजनीति में पिछड़ों में अभूतपूर्व राजनीतिक एकजुटता को जन्म दिया। लालू अपने कुशल नेतृत्व के कारण पिछड़ों की राजनीतिक एकता को मुखर रूप देने में सफल रहे। बाद के वर्षों में नीतीश कुमार ने बिहार की मंडलवादी राजनीतिक धारा को आगे बढ़ाने की कोशिश की। उन्होंने लालू के नेतृत्व को केवल एक पिछड़ी जाति के वर्चस्व का पर्याय मानते हुए पिछड़ी जातियों को अपने नेतृत्व में गोलबंद करने की कोशिश की। 1995 के विधानसभा चुनावों के बाद बिहार की मंडलवादी राजनीति में एक नई धारा का उभार देखा जा सकता है। 1996 के लोकसभा चुनावों से पिछड़ी जातियों का वोट दो खेमों में बँटने लगा। कुछ हद तक यह प्रक्रिया 1995 के विधानसभा चुनावों में ही शुरू हो गई। लेकिन इन चुनावों में नीतीश लालू को बहुत ज्यादा नुकसान नहीं पहुँचा सके। लेकिन 1996 के लोकसभा चुनावों में स्थिति बदली। इन चुनावों में लालू के नेतृत्व वाले जनता दल गठबंधन को यादवों का 81 फीसद वोट मिला। इसके विपरीत दो मजबूत पिछड़ी जातियों कुर्मी–कोइरी का 74 फीसद वोट दोनों गठबंधनों के बीच बँटे।[2] इस दशक में हुए बाकी चुनावों में भी कमोबेश यही प्रवृत्ति जारी रही।

मंडल की राजनीति के कारण ही नब्बे के दशक में बिहार की राजनीति में सामाजिक न्याय सबसे बड़ा मुद्दा बन गया। इस दशक में लालू सामाजिक न्याय के योद्धा के रूप में उभरे। उन्हें यादवों, मुस्लिमों, अन्य पिछड़ी जातियों, और दलितों के एक बड़े खेमे का समर्थन मिलता रहा। लालू की सामाजिक न्याय की राजनीति के कारण दलितों का बड़ा हिस्सा भी लालू से जुड़ा रहा। 1998 में रामविलास पासवान के अलग हो जाने के बाद लालू के दल को दलितों के वोट पहले की तुलना में कुछ कम मिले, लेकिन उन्हें अब भी दलितों का अच्छा–खासा वोट मिलता रहा। रोचक तथ्य यह है कि इन चुनावों में लालू–विरोधी गठजोड़ को दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों के ज्यादा वोट मिले थे। 2000 के विधानसभा चुनावों में लालू का दल पूर्ण बहुमत से दूर रहा। इन चुनावों में भी लालू को दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों के कम वोट मिले। लेकिन लालू पूरी तरह नहीं हारे, क्योंकि 1999 के लोकसभा चुनाव की तुलना में इन चुनावों में भाजपा गठबंधन के वोटों में भी कमी आई।'[3]

मंडल की तरह मन्दिर ने भी बिहार की राजनीति को प्रभावित किया। लेकिन राष्ट्रीय स्तर की राजनीति के विपरीत यहाँ भाजपा का कोई उभार नहीं हुआ। बिहार में मन्दिर का प्रभाव भी मंडल के प्रभाव से निर्धारित हुआ। आडवाणी को गिरफ्तार कर और बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने के बाद भी राज्य को दंगामुक्त रख कर लालू ने मुस्लिमों का विश्वास अर्जित किया। नब्बे के दशक में हुए सभी चुनावों में लालू के नेतृत्व वाले दल को मुस्लिमों के सबसे ज्यादा वोट मिले। बिहार की राजनीति में मंडलवादी राजनीति के कारको की मजबूत उपस्थिति ने यहाँ भाजपा की सांप्रदायिक राजनीति का प्रसार नहीं होने दिया। 1996 के लोकसभा चुनावों के बाद भाजपा को नीतीश कुमार का साथ मिला। इसके बाद कई चुनावों में भाजपा को भी अच्छी सफलता मिली। लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नीतीश और भाजपा का गठजोड़ भाजपा द्वारा मन्दिर मुद्दे को स्थगित करने पर ही आधारित था। इस लिहाज से यह कहा जा सकता है कि मंडल ने बिहार में मन्दिर की चमक फीकी कर दी। कई बार मंडलवादी राजनीतिज्ञों ने मन्दिर का उपयोग अपनी राजनीतिक स्थिति मजबूत करने के लिए किया। उदाहरणार्थ इस दशक में लालू मुस्लिमों को सांप्रदायिक भाजपा का डर दिखाकर अपने साथ जोड़े रखने में कामयाब हुए।

लेकिन 2000 के विधानसभा चुनावों में उनके दल को सबसे ज्यादा सीटें मिलीं। इसका एक कारण जमीनी स्तर पर लालू का आधार मजबूत होना था। यादव, मुसलमान, दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों का एक वर्ग अब भी मजबूती के साथ लालू से जुड़ा था। दरअसल लालू की जीत का एक बड़ा कारण राजग के घटकों का आपसी कलह था। बहरहाल, लालू चुनाव जीतकर अपनी पार्टी की सरकार बनवाने में सफल रहे। लेकिन निश्चित तौर पर उनका

राजनीतिक आधार सिकुड़ा। यादवों के अलावा अन्य पिछड़ी जातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की चेतना को समायोजित करना राजद के लिए सबसे बड़ी चुनौती बन गई।[4]

लालू प्रसाद ने अपने चुनाव प्रसार में अपने पुराने आधार को मजबूती से कायम करने की कोशिश की। लालू ने फरवरी के चुनावों के बाद सरकार गठित न हो पाने का दोष रामविलास पासवान के सिर मढ़ा। लालू ने रामविलास पासवान पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को मदद पहुँचाने का आरोप लगाया।[5] लालू ने नीतीश के पीछे सक्रिय सवर्णवादी और सांप्रदायिक भाजपा से मतदाताओं को सावधान किया। राजद नेताओं ने चुनाव प्रचार में इस बात पर जोर दिया कि लालू प्रसाद को हटाने के लिए साजिश की जा रही है क्योंकि वे पिछड़े वर्ग आदमी हैं और उन्होंने पिछड़ों और दलितों का सशक्तिकरण किया है।'[6] लालू का अनुसरण करते हुए रामविलास पासवान ने पिछले विधानसभा में सरकार न बन पाने का दोष राजद के सिर मढ़ा। पासवान ने लालू पर यह आरोप लगाया कि परिवारवाद के मोह में उन्होंने मुस्लिम मुख्यमंत्री के उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और इसी कारण धर्मनिरपेक्ष सरकार का गठन नहीं हो पाया। पासवान ने जातिवाद और सांप्रदायिकता दोनों के ही विरोध पर जोर दिया। पासवान को मुस्लिमों और ऊँची जातियों का व्यापक समर्थन मिलने की उम्मीद थी। उन्हें उम्मीद थी कि उन्हें और उनके चुनावी सहयोगी भाकपा को इतनी सीटें मिल जाएंगी कि वे यह तय कर पाएं कि अगली सरकार कौन बनाएगा।'[7]

इस बार विधानसभा चुनावों में कुछ ऐसे मुद्दे सामने आए, जो राजद को मुश्किल में डाल सकते थे। जद (यू)-भाजपा गठबंधन में नीतीश कुमार के अविवादित नेता के रूप में उभरने से मुस्लिमों और निम्न पिछड़ी जातियों में इस गठबंधन की विश्वसनीयता बढ़ी। पिछड़ी मुस्लिम जातियों के संगठन ऑल इंडिया मुस्लिम पसमांदा महाज ने इस बार नीतीश कुमार के नेतृत्व वाले जद(यू) को समर्थन देने का फैसला किया।[8] महाज ने लोकसभा चुनावों में राजद-काँग्रेस-लोजपा गठबंधन का समर्थन किया था। फरवरी के चुनावों में लोजपा के पक्ष में इसके समर्थन के कारण मुस्लिमों के वोट बाँटने के कारण राजद को सीटों का नुकसान उठाना पड़ा था। महाज ने दलित मुस्लिमों के लिए आरक्षण की मांगी की। सिर्फ जद (यू) ने दलित मुस्लिमों का आरक्षण देने का वायदा किया। राजद, काँग्रेस और लोजपा ने सभी मुस्लिमों को आरक्षण देने का वायदा किया। लेकिन महाज ने इसका विरोध किया, क्योंकि उसका मानना था कि इस तरह से आरक्षण का फायदा ऊँची मुस्लिम जातियों को ही मिलेगा।[9] यह महत्त्वपूर्ण है कि महाज ने अपना समर्थन सिर्फ जद(यू) को दिया। जिन स्थानों पर भाजपा के उम्मीदवार चुनावी मैदान में थे, वहाँ उसने दूसरे धर्मनिरपेक्ष दलों को समर्थन दिया।

पिछड़ी मुस्लिम जातियों के संगठनों के अलावा निम्न पिछड़ी जातियों में भी इस बार राजद का विकल्प आजमाने की भावना बढ़ी। पिछले चुनावों में निम्न पिछड़ी जातियों के वोट बँटते रहे थे। ऐसा भी नहीं था कि सभी निम्न पिछड़ी जातियाँ एक साथ गोलबंद होकर वोट डालती थीं। लेकिन इन जातियों में यह भावना जोर पकड़ने लगी थी कि राजद के शासन में मुख्य रूप से एक ही पिछड़ी जाति को फायदा हुआ है। ऐसे में इनमें से अधिकांश जातियाँ विकल्प की तलाश में थीं। इसके अलावा, राष्ट्रपति शासन के दौरान हुई गड़बड़ियाँ भी राजद के खिलाफ मुद्दा बन गई थीं। विपक्ष ने जोर-शोर से यह मुद्दा उठाया कि बूटा सिंह का शासन केवल लालू राज का विस्तार मात्र था।"[10]

इन चुनावों में धर्मनिरपेक्षता कोई बड़ा मुद्दा नहीं बन पाया। लोजपा गठबंधन को मिले वोटों का बड़ा हिस्सा उसे इसलिए मिला कि वह लालू की खिलाफत कर रही थी। यह चुनाव कई मायने में लालू बनाम नीतीश के बीच की चुनावी लड़ाई थी। नब्बे के दशक के बाद हुए सारे चुनावों की भाँति इन चुनावों में भी लालू विरोध या समर्थन के आधार पर ही मुख्य गठबंधन बने। लेकिन ये चुनाव नब्बे के दशक में हुए अन्य चुनावों से इस मायने में अलग थे कि नीतीश लालू के कद के नेता के रूप में उभरे। लालू ने पिछड़ों, दलितों और अल्पसंख्यकों को ऊँची जातियों और

सांप्रदायिक ताकतों से सावधान किया। उन्होंने दावा किया कि सिर्फ वे ही पिछड़ी जातियों, दलितों और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा कर सकते हैं। लालू के पास विकास का कोई एजेंडा नहीं था। इन विधानसभा चुनावों का नतीजा आने से एक दिन पहले लालू ने स्पष्ट रूप से कहा कि बिहार में विकास कोई मुद्दा नहीं है। चुनाव विकास से नहीं बल्कि मजबूत सामाजिक आधार तैयार करने से जीते जाते हैं। 1990 के बाद लालू की लगातार जीत के राज को अभिव्यक्त करने के लिए प्रसिद्ध समाज-वैज्ञानिक शैबाल गुप्ता ने सांस्कृतिक सब्सिडी शब्द का इस्तेमाल किया है। यह सांस्कृतिक सब्सिडी लालू के पूरे बिहारीपन, लोकजीवन के प्रति उत्साह और अभिजनों और तथाकथित बौद्धिक वर्ग के प्रति उनकी अवमानना पर आधारित थी।"[11] लेकिन अपनी आलोचनाओं को सुनने का धैर्य न होने के कारण लालू कभी भी यह महसूस नहीं कर पाए कि उनका आधार वोट सिकुड़ रहा है। उनका यह विश्वास था कि वे आर्थिक विकास जैसे मुद्दे को पीछे कर सिर्फ सांस्कृतिक सब्सिडी के आधार पर अपना शासन कायम रख सकते हैं। लेकिन ऐसा मानना लालू के जमीनी हकीकत से दूर रहने का प्रमाण ही था।

लालू के विपरीत नीतीश ने सामाजिक आधार की मजबूती के साथ ही साथ विकास के एजेंडे पर भी ध्यान दिया। तकरीबन सभी विश्लेषकों ने इस बात को स्वीकार किया कि नीतीश को अपने अविवादित नेता के रूप में पेश करने का फायदा जद(यू) - भाजपा गठबंधन को हुआ। भाजपा ने अपना हिन्दुत्व का एजेंडा पीछे किया और नीतीश के नेतृत्व में पूरी तरह क्रियाशील हुई। दरअसल, यह जनादेश एक ओर लालू-राबड़ी राज के खिलाफ था, तो दूसरी ओर नीतीश कुमार के पक्ष में था। यों फरवरी में हुए चुनावों में भी यही रूझान था, पर वह इतना ताकतवर नहीं था कि निर्णायक नतीजा आ पाता। इस बार नीतीश कुमार को मौका देने की भावना कहीं ज्यादा थी।[12]

चुनाव नतीजों की खास बात यह थी कि इससे राजद या लोजपा गठबंधन के वोटों में बहुत ज्यादा कटौती नहीं हुई, लेकिन जद (यू) गठबंधन के वोटों में बहुत ज्यादा बढ़ोतरी हुई। नीतीश ने न सिर्फ अपना आधार-समर्थन मजबूती से कायम रखा, बल्कि उन्हें दूसरे दलों का आधार वोट माने जाने वाले समुदायों का समर्थन भी मिला। साफ तौर पर, इस चुनाव में नीतीश अपने प्रतिद्वंद्वियों से बहुत आगे निकल गए। इन चुनावों में नीतीश को उन तबकों का समर्थन भी मिला जो पिछले चुनावों में सवर्णवादी और संप्रदायवादी शक्तियों से उनके गठबंधन के कारण उन्हें संदेह की नजर से देखते थे। इन चुनावों के नतीजों ने यह दिखाया कि राजनीति में जाति की क्रियाशीलता और विकास का मुद्दा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। नीतीश कुमार के सशक्त नेता के रूप में उभरने और विकास पुरुष की उनकी छवि ने जद(यू) गठबंधन को फायदा पहुँचाया। नीतीश की मजबूती ने लालू-राबड़ी के शासन से असंतुष्ट निम्न पिछड़ी जातियों में यह भरोसा जगाया कि नीतीश को वोट देकर वे सवर्णवादी भाजपा को सत्ता नहीं सौंप रहे हैं। विकास के नारे ने राजद के शासन से ऊब चुके अलग-अलग समुदायों को एक धारा में लाने में सहायता दी।[13]

अलग-अलग समुदायों ने अलग-अलग कारणों से नीतीश कुमार को समर्थन दिया है। इन समुदायों की विकास की अवधारणा भी अलग-अलग है और कई बार तो इनमें टकराव की गुंजाइश भी है।[14] उदाहरण के तौर पर भूमिहीन निम्न पिछड़ी जातियों और दलितों के लिए विकास की किसी भी संकल्पना का मतलब जमीन पर उनके अधिकार से शुरू होता है। लेकिन भूमिपति ऊँची जातियों का हित किसी भी तरह के भूमि सुधार से बाधित होगा। ऐसे में, वे उसका विरोध करेंगी। लालू की राजनीति में पिछड़ी जातियों की अपनी पहचान की चेतना की प्रमुख भूमिका थी। निम्न पिछड़ी जातियों ने लालू की जगह नीतीश को तरजीह दी। इसका कारण यह था कि उन्होंने यह महसूस कर लिया कि लालू का शासन एक जाति विषेष के समृद्ध तबके के वर्चस्व का पर्याय मात्र था। लेकिन ये जातियाँ कभी नहीं चाहेंगी कि फिर से ऊँची जातियों के वर्चस्व की वापसी हो। नीतीश के शासन में दबंग ऊँची जातियाँ पिछड़ी

जातियों पर अपने वर्चस्व की वापसी की कोशिश कर सकती है।[15] इन्हें नियंत्रित रखना नीतीश के लिए प्रमुख चुनौती है। ऊँची जातियों के वर्चस्व की वापसी की कोई भी आहट निम्न पिछड़ी जातियों को लालू की ओर मोड़ देगी।

बिहार–विभाजन के बाद बिहार की राजनीतिक में पिछड़ी जातियों के बीच सत्ता पर अधिकार के लिए संघर्ष बढ़ा। ऊँची जातियाँ पूरी तरह से सहयोगी की भूमिका में आ गई। रामविलास पासवान ने लोजपा का गठन कर एक ऐसी पार्टी का गठन किया, जिसका आधार वोट एक प्रमुख दलित जाति दुसाध थी। 2004 के चुनाव में राजद–काँग्रेस, लोजपा, माकपा और राष्ट्रवादी काँग्रेस के व्यापक धर्मनिरपेक्ष मोर्चे को जबर्दस्त चुनावी सफलता मिली। लेकिन फरवरी 2005 के विधानसभा चुनावों तक यह गठबंधन पूरी तरह से बिखर गया। फरवरी 2005 के चुनावों में पासवान का दल राजद और जद (यू) गठबंधन के बाद तीसरी ताकत के रूप में उभरा। लेकिन फरवरी 2005 में चुनी गई विधानसभा बिना किसी बैठक के भंग कर देनी पड़ी। अक्टूबर–नवम्बर 2005 और सन् 2010, 2015 के चुनावों में मतदाताओं ने लालू के दल को दरकिनार करते हुए नीतीश को पूर्ण बहुमत दिया। पासवान ने दलित–मुस्लिम सामाजिक आधार मजबूत करने की कोशिश की। लेकिन इस चुनाव में वे सुफल नहीं हुए। वास्तव में सन् 2005, 2010 और 2015 के विधानसभा चुनावों में मतदाताओं में नीतीश और उनके विकास के एजेंडे का आकर्षण बाकी सारी चीजों पर हावी रहा।

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि बिहार विभाजन के बाद के वर्षों में बिहार की राजनीति में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों को अपने एजेंडा में महत्त्वपूर्ण बदलाव करना पड़ा। लेकिन इन बदलावों में भी एक स्पष्ट निरन्तरता देखी जा सकती है। नीतीश को अपने आधार वोटों के अलावा निम्न पिछड़ी जातियों का व्यापक समर्थन मिला। सही मायने में लालू–राबड़ी शासन के खत्म होने और नीतीश की ताजपोशी क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के एजेंडा में नए आयाम का प्रतीक है।

सन्दर्भ ग्रंथ:-

1. वेंकिटेश रामकृष्णन, 'इक्जामिनिंग रिजर्वेशन' फ्रंटलाइन 5 मई, 2006, पृ॰ 4–7
2. संजय कुमार, 'न्यू फेज इन बैकवर्ड कास्ट पॉलिटिक्स इन बिहार', घनश्याम शाह (सं.), कास्ट एण्ड डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन इंडिया, परमानेण्ट ब्लैक, नई दिल्ली, 2002, पृ॰ 319–320
3. इन्दु सिन्हा, "बिहार चेंज ऑफ कोर्स इंडिकेटेड फॉर आरजेडी', इकोनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली दिसम्बर 4, 1999, पृ॰ 3417
4. संजय कुमार, 'न्यू फेज इन बैकवर्ड कास्ट पॉलिटिक्स इन बिहार', पूर्व उद्धृत, पृ॰326
5. सुरेन्द्र किशोर, 'चुनाव की तपिश में फिर झुलसेगा बिहार', हिन्दुस्तान, 16 सितम्बर 2005, (संपादकीय पृष्ठ), पृ॰ 8
6. पूर्णिमा एस त्रिपाठी, 'सिफ्टिंग लॉयलटीज', फ्रंटलाइन, नवम्बर 4, 2005, पृ॰ 29
7. वही, पृ॰ 29
8. पूर्णिमा एस त्रिपाठी, 'बिहार ऑन द ऐज', फ्रंटलाइन, अक्टूबर 21, 2005, पृ॰ 35
9. पूर्णिमा एस त्रिपाठी, 'बैक टू द पीपुल', फ्रंटलाइन, अक्टूबर 21, 2005, पृ॰ 35
10. वेंकिटेशन रामकृष्णन, 'ए न्यू एरा इन बिहार', फ्रंटलाइन, 16 दिसम्बर, 2005, पृ॰ 6
11. पूर्णिमा एस॰ त्रिपाठी, 'ए वोट फार चेंज, फ्रंटलाइन, 16 दिसम्बर, 2005
12. 'बिहार में बदलाव', (संपादकीय), जनसत्ता, 23 नवम्बर, 2005

13. संजय कुमार, राजीव कारिन्दकर और योगेन्द्र यादव, 'बिहार में चुनाव',
हिन्दुस्तान, 11 नवम्बर, 2005, पृ॰ 6
14. वेंकिटेश रामकृष्णन, 'ए न्यू एरा इन बिहार', पूर्वउद्धृत, पृ॰ 5–8
15. देखें, वी.कृष्णा अनंत, 'बिहार: डॉन ऑफ न्यू कास्ट बैटल्स? इकोनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 3
दिसम्बर, 2005, पृ॰ 142.43